# अन्य योगसाधनाएं और महर्षि अरविन्द की सर्वांग योगसाधना

☐ ब्रजनारायण शर्मा

**'नायमात्मा प्रवचेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन'**
**'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'** (—मुण्डक उपनिषद् ३।२।४-५)

उक्त उपनिषद् वाणी का उद्घोष यही है कि आत्मा की उपलब्धि न तो प्रवचन-उपदेश से, न बुद्धि से, न बहुत सुनने से होती है। बलविहीन मनुष्य इसको प्राप्त नहीं कर सकता। समस्त भारतीय दार्शनिक धार्मिक सम्प्रदायों का परम पुरुषार्थ आत्मा का साक्षात्कार करना रहा है। योगसाधना भी उस आत्मा को अनुभूत करने का अनुपम मार्ग है। वैदिक (निगम) और आगमिक परम्पराओं में योगसाधना सम्बन्धी विपुल साहित्य मिलता है। तांत्रिक साधना को भी आगमपरक माना जा सकता है। महर्षि अरविन्द के समक्ष योगसाधनाओं की अत्यन्त समृद्ध विरासत विद्यमान थी, जैसे,

हठयोग,

राजयोग,

ज्ञान-भक्ति-कर्मयोग के त्रिविध मार्ग,

तंत्र साधना-शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य, सौर्य आदि तांत्रिक पद्धतियाँ,

जैन साधना,

बौद्ध साधना।

श्री अरविंद के अनुसार उक्त साधना-प्रणालियों की समीक्षा करने के पूर्व 'योग' और 'साधना' पद के विशिष्ट अर्थों को जान लेना आवश्यक है। व्युत्पत्ति के आधार पर 'युजिर् योगे' और 'युज् समाधौ' दो प्रकार से 'योग' पद निष्पन्न किया जा सकता है। प्रथम के अनुसार जीवात्मा का परमात्मा से संयोग या मिलन है जबकि द्वितीय अर्थ में वह समाधि का वाचक है। सूत्रकार महर्षि पतंजलि ने योग पद को समाधि अर्थ में ही प्रयुक्त किया प्रतीत होता है यथा 'अथ योगानुशासनम्। (१।१), 'ताः एव सबीजः समाधिः' एवं 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः (योगसूत्र १।३६, १।५१) भाष्यकार ने स्पष्टतः 'योगः समाधिः' योग को समाधि कहा है। वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, भोज, हरिहरानन्द आरण्य आदि टीकाकारों ने समाधि अर्थ में ही 'योग' पद की व्याख्या की है। तत्त्व वैशारदीकार ने संयोगार्थक 'युजिर् योगे' अर्थ की आलोचना करते हुए समाधि अर्थ ही गृहीत किया है क्योंकि योगसम्मत छब्बीस पदार्थों का यथार्थ बोध हो जाने पर अविद्या आदि पाँच क्लेश तथा उनके निमित्त से होने वाले कर्मबंधन शिथिल पड़ जाते हैं और अन्त में समस्त चित्तवृतियाँ भी

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

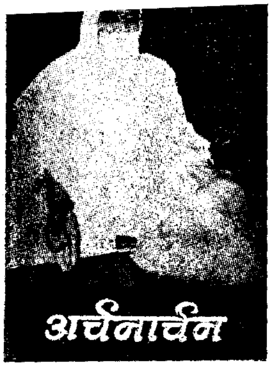




निरुद्ध हो जाती हैं। विज्ञानभिक्षु ने द्वितीय और तृतीय सूत्रों को मिलाकर योगलक्षण इस प्रकार दिया है—दृष्ट्रस्वरूपावस्थितिहेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधो योग: [१।२.३] अर्थात् दृष्टा (जीवात्मा) के वास्तविक स्वरूप की अवस्थिति का कारण चित्तवृत्तियों का निरोध योग है। किन्तु प्रलय काल में तथा समग्र सुषुप्ति—काल में चित्त की समस्त वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं। अतः इन अवस्थाओं में भी योग लक्षण प्रयुक्त होने लगेगा। इस अतिव्याप्ति दोष से बचाने के लिए नागेश भट्ट ने लक्षण में 'आत्यन्तिक' पद का निवेश किया है, तदनुसार 'दृष्टुरात्यन्तिक स्वरूपावस्थितिहेतुचित्तवृत्तिनिरोधस्यैव लक्षणत्वात्'। प्रलयकालीन तथा समग्र सुषुप्ति कालीन अवस्थाएं पुरुष की आत्यन्तिक या सार्वकापिक नहीं है। अतः कोई दोष नहीं होगा।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में 'योगः कर्मसु कौशलम्' तथा 'समत्वं योग उच्चते' कर्मों में कुशलता लाने तथा सुख-दुःख हानि-लाभ, जन्म-मृत्यु, यश-अपयश, गर्मी-सर्दी आदि द्वन्द्वों में समभाव लाकर स्थिरप्रज्ञ होना ही योग माना है। गीताकार के द्वितीय लक्षण को प्रायः सभी योगसाधनाओं में मान्य किया गया है। 'साधना' जीवात्मा की उस शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक चेष्टा या तैयारी का नाम है जिससे वह उत्तरोत्तर उत्थान करता हुआ अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने में फलीभूत होता है। समर्थ होता है।

महर्षि अरविंद ने अपनी साधना-प्रणाली को सर्वांग योग या पूर्णयोग की साधना कहा है। इसलिए उन्होंने अपने समय तक जो-जो भी साधना-क्रम विद्यमान थे उन सभी की समीक्षा करते हुए अपनी नूतन पद्धति की सर्जना की। प्रत्येक योगसाधना प्रायः किसी एक अंग पर विशेष बल देती है और उसे ही पूर्ण रूप से निखारने की चेष्टा करती है। अन्य सभी अंगों को उसी अंग को विकसित करने के लिए या उसकी पूर्ति के लिए छोड़ दिया जाता है। सभी अंगों को क्रमशः या एक साथ विकसित करने या उन्हें पूर्ण बनाने का न तो उनमें प्रयास किया गया है और न ही ऐसा करने के उनमें पर्याप्त अवसर प्रदान किये गये हैं। यही कारण है कि उक्त हठयोग से लेकर बौद्धसाधना पद्धतियों में उत्थान क्रम तो है किन्तु भागवतसत्ता का अवतरण भी होता है, यह सिद्धांत प्रायः उपलब्ध नहीं होता। श्री अरविंद की साधना में प्रत्येक अंग को विकसित और रूपातंरित कर साधक को परमेश्वर का उपयुक्त पात्र बनाया जाता है। यहाँ पर किसी भी अंग को निरर्थक या पथ का रोड़ा समझ छोड़ नहीं दिया जाता वरन् उसे भी पूर्ण बनाकर विकसित किया जाता है। शरीर के अन्दर या बाहर कहीं भी विराट से विराट अथवा सूक्ष्म से सूक्ष्य कोई अंश ऐसा नहीं बचता जिसमें प्रभु का निवास न हो। सत्ता के दो छोर हैं—भौतिक जड़ पदार्थ तथा चेतन आध्यात्मिक आत्मा। विभिन्न साधकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इस या उस छोर का पल्ला पकड़कर इस या उस छोर को परिव्यक्त करने का उपक्रम रचा है। दोनों में किसी सेतु के निर्माण का आयास नहीं किया। इसी न्यूनता की पूर्ति अरविंद ने की है। जड़ प्रकृति, चेतनप्राणी तथा परमात्मा से जीवन्त सामंजस्य स्थापित करने के लिए शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी अंगों के विकास और रूपांतरण को उन्होंने आवश्यक माना है।

मानवीय सत्ता का सूक्ष्मतम विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि मानव अत्यन्त जटिल, नितान्त भिन्न, परस्पर विरोधी अनेक गुणों का आगार है। वह कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अखण्ड, सरल, विशुद्ध या अमिश्र सत्ता नहीं है। प्रकृति के सभी स्तर उसमें अनुस्यूत हैं। सृष्टि की समस्त धाराएँ उसमें कहीं उद्दाम, कहीं मन्थर गति से प्रवाहित हो रही हैं। मुख्यतया तीन स्तर दृष्टिगोचर होते हैं। सत्ता का प्रथम स्तर शरीर और उसको संजीवित रखने वाली प्राण-शक्ति है। उससे ऊर्ध्वतर क्षेत्र में मन का स्थान आता है जिसमें बुद्धि, विचार, कल्पना, भावना और चिन्तन स्पन्दित होते रहते हैं। तृतीय ऊर्ध्वतम स्तर आत्मा है जो आध्यात्मिक बोध, विज्ञानमय स्वरूप आनन्द का अजस्र निर्झर एवं अमृतत्व का अधिष्ठान-आश्रय स्थान है। तांत्रिक शब्दावली में प्रथम देह-प्राणमय भाव 'पशुभाव', मन-बुद्धिमयभाव 'मनुष्यभाव' एवं तुरीयज्ञान-अध्यात्मभाव 'दिव्यभाव' कहलाता है। अन्तिम भाव ही सिद्धभाव या भागवत-भाव है। विकास की गति में पशुभाव से मनुष्यभाव और मनुष्यभाव से दिव्यभाव में क्रमशः आरोहण होता है। मानव जीवभाव से ऊपर उठकर ऊर्ध्वतम भागवतभाव में पहुँचकर कृतकार्य हो जाता है। केवल आरोहण क्रम ही नहीं होता। अवरोह क्रम भी निरंतर जारी रहता है जिसमें परमात्मा आनंदोदधि की अमृत-वर्षा करते हुए चेतन और पुनः चेतन से अनेक सत्ताओं के रूप में परिणत होता है और आरोहित जीव का आलिंगन करता है। इस प्रकार परमात्मा-प्राणी-प्रकृति का अवतरण और देह-मन और आत्मा का आरोहण अरविंद-दर्शन का प्राण है।

उक्त त्रिविध सत्ता के विभिन्न अंगों को आधार बना भारत की पावन वसुन्धरा पर अनेक प्रकार की साधनाएँ प्रचलित हुईं। इनमें हठयोग में 'घेरण्डसंहिता', 'शिवसंहिता' आदि को आधारभूत मानते हुए 'हठयोग प्रदीपिका' 'गोरक्षपद्धति' आदि ग्रन्थ लिखे गये तथा विभिन्न नाथ सम्प्रदाय के योगियों ने अपनी-अपनी कृतियों से इसे समृद्ध किया है। हठयोग 'ह' और 'ठ' के योग से बना है। 'ह' का अर्थ है सूर्यनाड़ी और 'ठ' का चन्द्र नाड़ी। प्रथम से उष्णता और द्वितीय से शीतलता प्राप्त होती है। प्राणायाम के द्वारा सूर्य और चन्द्र नाड़ी को संतुलन द्वारा सुस्थिर आधार पर केन्द्रित किया जाता है। आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा आदि के अभ्यास के द्वारा देह को बलिष्ठ और स्वस्थ तथा प्राणशक्ति का अप्रतिहत गति से उत्तरोत्तर उत्थान करने का नाम हठयोग है। शरीर और प्राणशक्ति को वशीभूत कर परिशुद्ध बनाना हठयोग का उद्देश्य है। इसकी प्रतिष्ठा अन्नमय और प्राणमय कोश की आधारशिला पर होती है। वंशानुक्रम और पर्यावरण द्वारा हमारा शरीर और प्राणशक्ति नियंत्रित होती है। दैनिक जीवन में जितनी प्राणशक्ति की ऊर्जा की खपत होती है, शरीर के जो-जो अंग कार्यरत होते हैं उतनी ही शक्ति बनती है। शरीर भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, जरा-व्याधि-मृत्यु का दास बना रहता है। हठयोग अपनी साधना के द्वारा देह में प्राणशक्ति के अक्षय स्रोत को उन्मुक्त प्रवाह में परिणत कर देता है जिससे देह की दासता के सभी क्षुद्र बन्धन परिसमाप्त हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं। शरीर और प्राण पर विजय प्राप्त करना हठयोग का परम लक्ष्य है। अन्नमय और प्राणमय कोश से बने स्थूल शरीर को बलिष्ठ, सुन्दर और दीर्घजीवी बनाने के लिए यह दो उपाय—आसन और प्राणयाम प्रयुक्त करता है। शरीर को आसनों के माध्यम से स्थिर व अचंचल बनाया जाता है। सामान्यतया शरीर में कोई न कोई गति या कुछ न कुछ क्रिया सर्वदा चलती रहती है। वैश्वजीवन के महासागर से जो प्राणशक्ति शरीर में प्रविष्ट होती है उसे सारी की सारी अपने में समेटने में देह

आसनस्थ तम
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असमर्थ है इसीलिए नाना प्रकार के अंग-संचालन और क्रियाकलापों में वह स्रोत शरीर से बाहर निकल जाता है और विविध कर्मों में इस अतिरिक्त शक्ति का क्षरण होता है। हठयोग-प्रदीपिकाकार ने ठीक ही कहा है—

**"हठस्य प्रथमांगत्वादासनं पूर्वमुच्यते।**
**कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम्॥"**

अर्थात् हठयोग के प्रथम अंग को आसन कहा जाता है। शरीर में स्थिरता, आरोग्य और स्फूर्ति लाने के लिए आसनों का अभ्यास करना चाहिए। इसीलिए योगसूत्रकार ने भी 'स्थिरसुखमासनम्' कहा है। शरीर की चंचलता को अवरुद्ध करके उसे शांत तथा निस्पंद बनाने का अभिप्राय है प्राणशक्ति का सर्वथा सम्पूर्णतः अपने में धारण करना। इससे शरीर हृष्ट-पुष्ट, स्वस्थ, निरोग और सुन्दर बन जाता है।

शरीर स्थिर हो जाने के पश्चात् हठयोग में शारीरिक शुद्धि की ओर ध्यान अग्रसर किया जाता है। शरीर में अनेक प्रकार के मल विद्यमान रहते हैं जिनके कारण नाड़ीमण्डल दूषित हो जाता है। मलशोधनकर्मों के द्वारा शरीर को सर्वथा मलरहित बनाने का प्रयास किया जाता है जिससे नाड़ीसंस्थान शुद्ध होकर श्वास-प्रश्वास क्रिया को अबाध गति प्रदान करता है। इसीको प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम द्वारा प्राणशक्ति वशीभूत कर प्राणवायु को संयत किया जाता है। शरीर में भरे हुए स्थूल रूप से दिखाई देने वाले विजातीय द्रव्य ही मल कहलाते हैं जिन्हें शरीर से निष्कासित करने के लिए हठयोग में षट् कर्म का मलशोधन विधान रचा गया है। यथा—

**धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।**
**कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते॥**

—हठयोगप्रदीपिका

अर्थात् धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि तथा कपालभाति ये छः मलशोधक कर्म कहलाते हैं। इनमें भस्त्रिका, गजकरणी, बाघी, शंखप्रक्षालन आदि कर्मों को जोड़ कर दस मलशोधककर्मों का विधान हठयोग में सम्मत है। मलशोधनकर्मों के द्वारा प्राणशक्ति प्रबल हो उठती है, अत्यन्त वेगवती हो जाती है जिससे साधक अनेकविध अद्भुत कार्यों को सम्पन्न करने की सामर्थ्य संजो लेता है। उत्तम स्वास्थ्य, उद्दाम यौवन और असाधारण रूप से सुदीर्घ आयु प्राप्त कर लेता है। कायासिद्धि के अलावा प्राणायाम से एक और श्रेष्ठ लाभ होता है वह है सर्पाकार सुप्त कुण्डलिनी शक्ति का जागरण। कुण्डलिनी-जागरण के पश्चात् साधकयोगी को अकूत शक्ति, अलभ्य सिद्धियाँ, ऐश्वर्य उपलब्ध हो जाते हैं। साथ ही अकल्पित जगत्, अदृश्य स्तर, अद्भुत दृष्टि तथा विविध क्रियाओं के रहस्य प्रकट हो जाते हैं। अनेक प्रकार की कृच्छ्र एवं कठोर साधनाएँ उसके लिए सुगम हो जाती हैं।

हठयोग की उपलब्धियाँ साधारण मानव को अत्यधिक लुभाती एवं प्रभावित करती हैं। स्थूल और भौतिक शरीर पर असाधारण अधिकार हो जाता है। भौतिक प्रकृति का उद्देश्य केवल भौतिकजीवन की सुरक्षा, अक्षरित शरीर, अपारशक्ति का आधार तथा भौतिक जीवन का अधिक से अधिक उपभोग करने की सामर्थ्य प्राप्त करना है। किन्तु ये सब प्राप्त तो होती हैं किन्तु इसके लिए असाधारण मूल्य चुकाना पड़ता है। इसकी जटिल प्रक्रियाएँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अत्यन्त कठोर साधनाएँ साधक से इतने समय, शक्ति और श्रम की माँग करती हैं कि वह एकाग्र साधन के लिए सामान्य जीवन के कार्यों से अलग होता जाता है। एकाकी किसी गिरि-कानन या उपत्यकावासी बनकर ही इन लाभों को प्रसक्त किया जा सकता है। पर इन सबकी सार्थकता क्या है? मैत्रेयी के प्रश्न की सहसा स्मृतिपटल पर छवि अंकित हो जाती है—'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्' अर्थात् 'इस धन, सम्पत्ति और ऐश्वर्य को लेकर मैं क्या करूंगी जिस वस्तु से मैं अमरता प्राप्त न कर सकूं, अमृतत्व न पा सकूं उससे मेरा क्या काम? उन्हें लेकर मैं क्या करूं।' दूसरे, हठयोग से इतनी लम्बी और कठोर साधनाओं से प्राप्त होने वाली उपलब्धियाँ राजयोग, तांत्रिकसाधना आदि से बहुत न्यून परिश्रम से सहज और सरल रूप से मिल सकती हैं। तीसरे, ऐश्वर्यमूलक सिद्धियों के मद में चूर होकर हठयोगी के मार्ग में ही भटकने की बड़ी संभावनाएँ बनी रहती हैं। इसीलिए सच्चे साधक इस सिद्धपने और सिद्धियों को मार्ग का कंटक समझ कर ऐसे चमत्कारों से दूर रहने का परामर्श देते रहते हैं। यदि हठयोगी साधनाओं से मिलने वाली सिद्धियों से जनसामान्य का भला नहीं किया जा सके तो इन्हें अपने ही कार्यों के लिए कंजूसों की तरह पकड़े रहना कौन महती उपलब्धि है। महर्षि अरविंद के विचारों में ऐश्वर्य प्राप्ति घातक सिद्ध नहीं होती क्योंकि ऐश्वर्य भी भगवान् की महिमा है। अत: उनके मत में भगवत्प्राप्ति और ऐश्वर्य-भोग दोनों साथ-साथ चल सकते हैं। हठयोगी की तरह अरविंद अपने साधक को शक्ति का स्वामी बन कृपण की तरह अपनी उपलब्धि को दीर्घकाल तक छिपाकर रखने के हामी नही बनाते वरन् उसे सम्पूर्ण प्राणी जगत् की भलाई में विनियोजित करने का दिव्य संदेश देते हैं।

हठयोग की न्यूनताएँ परिलक्षित कर श्री अरविंद राजयोग की ओर अपना ध्यान आकर्षित करते हैं। राजयोग हठयोग से एक सोपान ऊँची साधना है। इसका लक्ष्य भौतिक स्थूल शरीर और प्राणशक्ति की पूर्णता न होकर मानसिक सत्ता की पूर्णता हासिल करना है। इस साधना का केन्द्र मन है। चंचल, अशांत, असंयत मन को शांत और संयत बनाकर नियंत्रित करना होगा। अपने समस्त विचारों, कल्पनाओं, भावना, वासना और प्रेरणाओं को वशीभूत करना होगा। विचित्र और विविध खेलों में अपने आपको रमाने वाले मन में जो अनेकविध बहुमुखी वृत्तियाँ उदित होती रहती हैं उन सबका उद्गम-स्थल है 'चित्त'। हम जो भी करते हैं वे सब चित्त के महासागर से तरंगों के उत्ताल नर्तन की भाँति उठते हैं, कुछ-क्षण खेलकर उसीमें विलीन हो जाते हैं और पुन: संस्कार के रूप में उसके पटल पर अंकित होते रहते हैं। राजयोग का मूल मंतव्य यही है कि यदि चित्त को वशीभूत कर लिया जाय तो मन अपने आप वश में आ जायेगा। इसीलिए वेद, उपनिषद्, स्मृति साहित्य का मंथन कर महर्षि पतंजलि ने 'योगसूत्र' की रचना कर—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:' अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा है। इन वृत्तियों के विक्षोभ के कारण ही मानवीय अन्त:करण मलिन हो जाता है। इधर-उधर दौड़ लगाता है। इसी कारण मानव स्वयं को नहीं जान पाता है। उसके अन्दर जो विराट सत्ता विराजती है उन परमेश्वर का, भगवान् का अपनी क्षुद्र प्रवृत्तियों के कारण स्पर्श नहीं कर पाता। मानव मन सामान्यतया व्याकुल और अस्तव्यस्त अवस्था में रहता है। स्वयं स्वामी अर्थात् पुरुष अपने मंत्रियों और अन्य कर्मचारियों-अधिकारियों के अर्थात् अपने संवेदन, वासना, भावना, क्रियाओं और उनके उपभोग के यंत्रों के अधीन रहता है। नौकर मालिक के आसन पर बैठकर मनमानी कर रहे हैं। अतएव

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजयोग में चित्तवृत्तियों की इस मनमानी अव्यवस्था के स्थान पर व्यवस्था की स्थापना की जाती है। चित्तवृति के उद्दाम चांचल्य और प्रवृत्तियों के उच्छृंखल वेग को शांत और नियंत्रित करने के लिए योग में अष्टांग साधन—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा एवं समाधि का विधान किया गया है। यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य) तथा नियम (शौच, तप, संतोष, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान) के विधि-निषेधमूलक तथा शमन-दमनपरक साधनों का यथासाध्य पालन करने से साधक चित्तविक्षोभ को दासता से थोड़ा बहुत मुक्त हो जाता है। मन को संयत बनाकर नियमों के दायरे में बांध कर मन को शांत और स्थिर बनाने का प्रयास किया जाता है। राजयोग मनोमयकोश पर ही केन्द्रित रहता है। किन्तु मन स्वयं स्वतंत्र नहीं होता। उस पर देह और प्राण का भी आधिपत्य रहता है। इस कारण राजयोग में आसन और प्राणायाम को भी उपयोगी ठहराया गया है। परन्तु हठयोगी जिन कष्टसाध्य सैकड़ों आसन तथा विविध प्रकार के जटिल प्राणायाम, मलशोधक कठिन अभ्यासपरक क्रियाओं, बन्धों, मुद्राओं को अनिवार्य-अपरिहार्य मानते हैं उनमें से राजयोगी उनको सरल-सहज बनाकर ध्यान की एकाग्रता के लिए जितना आवश्यक है उतना ही ग्रहण करता है। इसीलिए योगसूत्रकार ने 'जिस प्रकार के बैठने से मन को स्थिर रखने में सुविधा हो, प्राणायाम आसानी से हो, उसीको आसन कहा है। प्राणायाम है श्वास-प्रश्वास गति का निरोध। इस निरोध के दो उद्देश्य हैं—प्रथम श्वास-प्रश्वास की गति के अवरुद्ध हो जाने पर चित्तवृति भी सहज ही निरुद्ध हो जाती है। दूसरे प्राणायाम साधना से सोई हुई कुण्डलिनी जाग जाती है जो प्राणशक्ति का आधार है। इस जागरण से चित्त पर जो घनीभूत तम की चादर पड़ी रहती है वह छिन्न-विच्छिन्न हो जाती है। चित्त स्वच्छ, निर्मल सत्त्व प्रकाशक बन जाता है। इन लक्ष्यों की पूर्ति के अतिरिक्त जितनी भी हठयोगी अवान्तर क्रियाएँ-साधनाएँ हैं उन्हें राजयोगी छोड़ देता है। साथ ही आसन-प्राणायाम की साधना से हठयोगी को जिन-जिन सिद्धियों—ऐश्वर्य भोग का प्रलोभन मिलता है उनकी ओर राजयोगी तनिक भी आकृष्ट नहीं होता। जब चित्त शांत, निर्मल और आनन्द से भर उठता है तब उसे सर्वथा विचार-वितर्क-शून्य और पूर्णतया निश्चल बनाने के लिए सहायता मिलती है। बाहरी पदार्थों से इन्द्रियों को हटाकर अन्दर की ओर मोड़ देना प्रत्याहार है। इस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार को बहिरंग साधन माना गया है। बहिरंग साधनों की सिद्धि के पश्चात् धारणा, ध्यान और अन्त में समाधि की ओर पहुँच कर स्वरूपस्थिति का साक्षात्कार करने पर राजयोग की सिद्धि सम्पन्न हो जाती है। धारणा आदि तीन साधन अन्तरंग साधन कहे जाते हैं। निर्बीज या असंप्रज्ञात समाधि में ध्याता-ध्यान-ध्येय की त्रिपुटी विलुप्त हो जाती है। केवल एक उदार-विराट-महान स्वप्रतिष्ठ चैतन्य ही रहता है। चित्त के, शरीर के, प्राण के समस्त मल निर्मूल एवं लुप्त हो जाते हैं, संस्कार शांत हो जाते हैं। 'दोषबीजक्षये कैवल्यम्' की उपलब्धि होती है।

महर्षि पतंजलि ने लोगों की शक्ति और सामर्थ्य को देखकर विभिन्न राजयोगी प्रावधानों की व्यवस्था की है। इस व्यवस्था को अधिकारी-विवेचन कहा जाता है। उन्होंने तदनुसार उत्तम, मध्यम और मन्द भेद से तीन प्रकार के साधक माने हैं। ये क्रमशः युक्त—योगारूढ साधक उत्तम, युञ्जान साधक मध्यम तथा आरुरुक्ष साधक मन्द कहलाते हैं। इन्हीं के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए क्रमशः तीन सोपानक्रम—अभ्यास-वैराग्य, क्रियायोग तथा अष्टांगयोग अपनाये गये हैं। उत्तम साधकों की कोटि में वे योगी आते हैं जिन्होंने पूर्व के कई जन्मों में योगाभ्यास आरंभ कर पांच बहिरंग साधन सिद्ध कर लिए हैं। इस कोटि में परमहंस आदि संन्यासी और जड़ भरत आदि उत्कृष्ट साधक आते हैं। वे योगी मध्यम कोटि में आते हैं जिन्होंने वानप्रस्थी रहकर इस जीवन में योगसाधना में अहर्निश लीन रहना ही अपना ध्येय बना लिया है। इन्हीं के लिए महर्षि पतंजलि ने तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान का सोपानक्रम विहित किया है। अत्यन्त चंचल-स्वभाव वाले गृहस्थाश्रमियों के लिए उन्होंने अष्टांग-योग की साधना मान्य की है। क्योंकि विषय-वासनाओं से जर्जर शरीर और उच्छृंखल प्रवृत्तियों में रमने वाला अत्यधिक चित्त लेकर ये मन्द साधक अभ्यास—वैराग्य जैसे उत्कृष्ट साधन तथा क्रियायोग जैसे दुःसाध्य उपायों को सहज ही क्रियात्मक रूप नहीं दे पाते। "अष्टांगयोग मार्ग का अनुसरण करने वाले मन्द साधकों को उत्तम और मध्यम साधकों का अनुगमन नहीं करना पड़ता, क्योंकि इसीमें प्रथम और द्वितीय सोपानक्रम अन्तर्भावित हो जाते हैं। यही मुख्य मार्ग है। जबकि मध्यम साधकों को क्रियायोग की सिद्धि के पश्चात् उत्तम साधकों के 'अभ्यास-वैराग्य' सोपान क्रम का अनुसरण करना आवश्यक है।" [योगवार्तिक पृ० २४७, तत्त्ववैशारदी योगसूत्र २।२९ पर]

राजयोग के दो प्रधान उद्देश्य हैं—स्वराज्यसिद्धि तथा साम्राज्यसिद्धि। साधारण जीवन में मानव इन्द्रियों का दास बना स्थूल शरीर से चिपटा रहता है। इन्द्रियों से भी परे कोई मनोमय लोक है, इस बात का ध्यान जरा भी उसे नहीं रहता। राजयोग अपने बहिरंग साधनों के द्वारा इन्द्रियों को बाहरी विषयों से मोड़ कर अन्तर्मुखी बनाकर चित्त को निर्मल, निर्द्वन्द्व, सर्वथा विचारशून्य, निश्चल बनाकर अन्तःचैतन्य का द्वार खोल देता है। इस समय हमारा ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से होने वाले ज्ञान से ही आबद्ध नहीं रहता, वरन् ज्ञान का एक गहन-गम्भीर स्रोत हमारे अन्तस् में प्रस्फुरित हो पड़ता है और वस्तुतत्त्व की आभ्यन्तरिक सत्ता अपने आप उन्मीलित हो जाती है। जीव इसी समय अपने आध्यात्मिक स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इसी को स्वराज्य-सिद्धि कहा जाता है। स्वराज्य-सिद्धि के उपरान्त साधक केवल अन्तर्जगत् में ही नहीं रम जाता किन्तु समाधि-अवस्था की उस केन्द्रीभूत महान् चित-शक्ति के द्वारा वह बाह्य जगत् को भी वशीभूत करने में समर्थ हो जाता है। उसका संगठन, नियंत्रण तथा परिचालन कर सकता है। इसी को साम्राज्य-सिद्धि कहते हैं। प्राचीनकाल में साधकगण साम्राज्य-सिद्धि के बिना स्वराज्य-सिद्धि को अपूर्ण मानते थे। किन्तु आजकल स्वराज-सिद्धि को ही साधक अत्यधिक महत्त्व देते हैं और इसको उपलब्ध करने के पश्चात् साम्राज्य-सिद्धि की परवा नहीं करते। सर्वांगयोग में दोनों की सिद्धि अभीष्ट है।

यह सही है कि राजयोग साधक को देह और प्राण से ऊँचा उठाकर मानसिक क्षेत्र में पूर्णता प्रदान करता है और वास्तविक आध्यात्मिक जीवन का रसास्वादन कराता है, किन्तु इस समाधिगत आध्यात्मिक रसास्वादन में वह इतना लीन हो जाता है कि जाग्रत अवस्था को हेय समझकर उसे बिसरा देता है। श्री अरविंद के अनुसार अतीन्द्रिय क्षेत्र की चेतना को स्थूल में जाग्रत तथा स्थूल जगत् को आत्मशक्ति द्वारा संचालित करना, निर्मित

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना योगसाधना का लक्ष्य है। राजयोग में यह उद्देश्य प्राप्त नहीं होता। साधना से मिलने वाली सिद्धियों और ऐश्वर्य-भोगों के प्रति भी उसका हेयभाव ही रहता है। किन्तु ऐश्वर्य और भोग-सामग्री भी तो परमेश्वर की ही सम्पदा है। अतः इसकी अवहेलना न कर प्रभु द्वारा प्रदत्त प्रसाद के रूप में इसका उपयोग करना चाहिए।

राजयोग की साधना मानसिक जीवन की क्षमताओं को विकसित कर असाधारण पूर्णता प्रदान करती है और साधक को ऊँचे उठाकर आध्यात्मिक जीवन में प्रविष्ट करा देती है। किन्तु इसकी विधियां विशिष्ट हो सकती हैं, अनिवार्य नहीं। क्योंकि यह विधि चैत्य—भौतिक प्रक्रियाओं पर आधारित रहती है। यह विधि पूर्णतः आध्यात्मिक न होने के कारण कतिपय मनोभौतिक प्रक्रियाओं के परिणाम पर अवलम्बित होने के फलस्वरूप उच्चतर क्रिया के स्थान पर निम्नतर क्रिया को भी अपने आगोश में समाविष्ट करती है। यही कारण है कि हमारे पौराणिक वाङ्मय में अनेक ऋषि-मुनियों के उदाहरण मिलते हैं जो समाधि की उच्चतर अवस्था पर पहुँचकर भी स्खलित हो नीचे गिर पड़ते हैं जरा से इन्द्र की अप्सराओं के लुभावने यौवन-आमंत्रण पर।

संभवतया इन्हीं न्यूनताओं को लक्ष्य में रख कर ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग का त्रिविध मार्ग अपनी-अपनी विशिष्ट साधना पद्धतियां लेकर साधकों को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करता है। इस त्रिविध-योग में मानव मन को समग्र रूप में गृहीत करने की अपेक्षा एक-एक अंग-ज्ञान-प्रेम-संकल्प को प्रधानता दी गयी है। इस मार्ग के अनुसरण-कर्ताओं की ऐसी मान्यता रही है। सम्पूर्ण मानव को तोड़मरोड़ कर नूतन रूप से गढ़ने के बजाय इन केन्द्रीभूत मूलस्थलों को पकड़ा जाय, जिन पर अधिकार करने से समग्र व्यक्तित्व प्रभावित हो जाये। हठयोग और राजयोग में देह-प्राण-मन को परिष्कृत-परिमार्जित-विशुद्ध बनाने में जिन जटिल कठोर साधना-प्रक्रिया तथा दीर्घ—ध्यानएकाग्रता पर बल दिया जाता है उन आसन-प्राणायाम-चित्तवृत्तिनिरोध की जो-जो प्रक्रियाएँ मानव मन पर आरोपित की जाती हैं, उनका दबाव डाला जाता है, उनकी तनिक भी आवश्यकता त्रिविध योग में नहीं पड़ती। क्योंकि सभी कृच्छ्र-कठोर पद्धतियां संकीर्ण कृत्रिम विधियों में न उलझ कर वे मानव को सहजभाव व स्वाभाविक अवस्था में अपनाने का प्रयास करती हैं। इसी कारण ज्ञान, भक्ति एवं कर्मयोग का त्रिविध मार्ग योगसाधना में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अपेक्षा इस मार्ग में उसके प्रज्ञा, भाव तथा संकल्प पक्षों में से एक-एक पर बल दिया जाता है। ज्ञानमार्ग का उद्देश्य एकमेव ऐसी सत्ता से तादात्म्य स्थापित करना है जो न तो कभी परिवर्तित होती है, न नष्ट होती है। यह सत्ता निर्गुण, निराकार, निर्विकार, नित्य, अज, अद्वैत स्वरूपा है। सत्-चित्-आनंद है। ज्ञानमार्गी साधक को ऐसा विवेक जाग्रत करना होता है जिसके बल पर वह इस सत्ता का साक्षात्कार कर सके। मन, वाणी और बुद्धि से इस सत्ता की अनुभूति नहीं होती। इसी कारण लोकगत विभिन्न पदार्थों को मायावत् मिथ्या मानना इसमें आवश्यक है। भक्तिमार्ग भावपक्ष को प्रधान मानता है। सर्वोच्च प्रेम और आनन्द का उपभोग करना इसका अन्तिम लक्ष्य है। पूर्ण समर्पण और अटूट श्रद्धा इसके साधन हैं। पूजा और ध्यान का प्रयोग केवल भगवान् से सम्बन्ध बनाने तक रहते हैं। सम्पूर्ण जगत् भगवान् की लीला माना जाता है। भक्ति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग में साधक में तीव्र भावावेश उन्मीलित होता है जिससे वह सर्वप्रेम, सर्वसुन्दर और सर्वआनन्दमयी सत्ता के साथ एकाकार हो जाना चाहता है। उसी में लीन हो जाना अभीष्ट समझता है। कर्मयोग की पद्धति जरा भिन्न है। इसमें कर्म के समस्त अहंभाव से युक्त स्वार्थपूर्ण, क्षुद्र लक्ष्यों की अपेक्षा सर्वोच्च संकल्पशक्ति की ओर समर्पण मुख्य रहता है। निष्काम भाव से कर्म करते रहने की आदत से साधक अपने अन्तःकरण को इतना शुद्ध और पवित्र बना लेता है कि वह अपने सम्पूर्ण कार्यों का सच्चा कर्ता, स्वामी, संचालक एवं शासक परमेश्वर को मानने लगता है। वह तो एक यंत्र की भांति परमात्मा के आदेश का पालन मात्र करता है। कर्मों का चुनाव और उनका दिशा-निर्देश अधिकांशतः चेतन रूप में इसी सर्वोच्च शक्ति के संकल्प और वैश्वशक्ति पर छोड़ दिये जाते हैं। परिणामतः आत्मा (जीवात्मा) बाहरी क्रियाकलापों—प्रतीतियों और दृश्यमान व्यापार व प्रतिक्रियाओं के बन्धन से छुटकारा पा जाता है और सर्वोच्च सत्ता में प्रवेश करने के लिए समर्थ हो जाता है। किन्तु यह त्रिविध मार्ग भी न्यूनताओं और दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान-मार्ग में साधक में ज्ञानवान् होने का दंभ इतना छा जाता है कि वह अपने आपको कभी-कभी भगवान् ही घोषित करने से नहीं चूकता। भक्तिमार्ग में साधक स्वामी-सेवकभाव से उभर नहीं पाता और कभी भी अपने आपको स्वतंत्र कर्ता घोषित करने में असमर्थ पाता है। कर्मयोग विभिन्न पूजा-पाठ, अर्चना-विधानों के घने उलझे हुए आडम्बर जंजाल में साधक फंस जाता है। फिर तीनों ही मार्ग अपने आप में एकाकी, एकांगी रहते हैं, क्योंकि मानवीय व्यक्तित्व ज्ञान, भावना और कर्म का समन्वित रूप है।

उक्त सभी पद्धतियों का समन्वय कर प्रयोग करना अत्यन्त दुष्कर है, क्योंकि मानवजीवन इतना छोटा और क्षुद्र है, इतना सक्षम और सबल नहीं है कि इन सभी का प्रयोग बारी-बारी से कर इनकी परीक्षा करे और नवनीत रूप में इनका लाभ उठाये। बिना विचार-विमर्श और विवेकाभाव की स्थिति में उन सभी पद्धतियों का संघात, समन्वय नहीं कहलाता। अतः इनके क्रमिक अभ्यास से कोई उपलब्धि नहीं हो सकती। किन्तु भारतवर्ष एक ऐसा अनूठा देश है जिसमें साधक योगी तपस्वियों ने एक ऐसी समन्वित प्रणाली को अन्वेषित करने में सफलता पायी है जिसमें सभी का यथायोग्य सामंजस्य स्थापित हो जाता है। वह विशिष्ट प्रणाली तंत्र के नाम से विख्यात है। शैव, शाक्त, वैष्णव, सौर्य एवं गाणपत्य तंत्र साधना यहाँ यथेष्ट रूप में फलती-फूलती रही है। दक्षिण और वाममार्ग तंत्रसाधना के दो प्रतीकात्मक आयाम रहे हैं, जिनमें ज्ञान और आनन्द की ओजमयी समन्वयी धारा प्रवाहित रही है। वाममार्ग का गलत-सलत प्रयोग कर पंचगामी मांस, मदिरा, मैथुन आदि में गुमराह वाममार्गी साधना को किसी ने भी आगे जाकर नहीं अपनाया और सच्चे अर्थों में प्रयोग कर इसे भ्रष्ट करार दे सर्वथा परित्याग कर दिया।

जैनसाधना हठयोग के उग्र तप और ध्यान की साधना की उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें दिगम्बर साधनाक्रम कोई अपवाद या सुविधा लेने का हामी नहीं रहा है। सम्भवतया नाथपरम्परा और दिगम्बरजैनपरम्परा में एक ही मूल स्रोत प्रवाहित है। ये अजस्र धाराएँ हैं। श्वेताम्बर परम्परा साधक की क्षमतानुसार साधनाक्रम अपनाती है। साधनों की पवित्रता एवं तपस्या इसमें भी प्रधान रही है। वस्तुतः जैनसाधना में हठयोग, राजयोग और ध्यानयोग

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अपूर्व समन्वय पाया जाता है। कर्ममलों को क्षरित करता हुआ साधक मानसिक उद्वेगों को उपशान्त करके एक-एक करके चौदहवें गुणस्थान तक आरोहण मार्ग पर आरूढ होता जाता है। यही इसकी विशिष्टता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्चारित्र की सम्यक्साधना के कठोर अनुपालन के कारण ही जैनसाधना कभी भी वाममार्ग की भ्रष्ट पंचमार्गी साधना में आज तक नहीं भटक पायी। चरित्रगत ऊँचाइयाँ लांघ कर ही साधक केवली या तीर्थंकर बन अपना कल्याण या समस्त मानवजाति को कल्याणमार्ग सुझाने का उपक्रम रच सकता है।

बौद्धसाधना भी न्यूनाधिक रूप में शीलप्रधान रही है। इसकी हीनयानी साधना व्यक्तिगतसाधना या अद्वैतसाधना तक केन्द्रित रही है किन्तु महायानी साधना करुणा पर आधारित होकर बोधिसत्त्व साधना बन समस्त प्राणी जगत् के कल्याण की कामना करती है। राजयोग पर ही मुख्यतः ये दोनों साधनाएँ आधारित हैं। कुछ दिनों वज्रयान की वाममार्गी साधना की अपकीर्ति से भी यह व्यथित रही। ध्यान और शीलगत आचार इस साधना के प्रबल साधन रहे हैं।

उक्त दोनों साधनाएँ किसी न किसी रूप में पातंजल योगसाधना की अनुगामिनी अवश्य रही हैं पर इन दोनों ने उन साधन प्रक्रियाओं को अपने-अपने ढंग से संवारा है, परिमार्जित किया है एवं संशोधित किया है। फिर भी अन्य साधनाओं की भांति ये भी साधक को एकाकी किसी गिरिकन्दरा या शान्त उपत्यका वासी बनाने का उपक्रम अधिक करती हैं। जैनसाधना की उग्रता, कठोरता और सर्वथा अपरिग्रही साधना सभी के बस की बात नहीं है। शीलगत आचार विधान का शास्ता जब तक रहता है तभी तक कारगर साबित होता है। शास्ता के प्रयाण करते ही उसमें ढील-पोल आने लगती है, स्वैराचार, अपवाद-सुविधाएँ भोगने की अदम्य लालसा जाग्रत होने लगती है। यही कारण है कि जैन-बौद्ध और वैदिक साधनाओं में काफी स्खलन-पतन और अधोगमन होता रहा है। युग की माँग के अनुरूप इसीलिए महर्षि अरविंद ने उन सभी प्रणालियों से सार ग्रहण करते हुए पूर्णयोग की साधना पद्धति नूतन रूप से संजोने का प्रयास किया है।

इसी प्रकार उन्होंने समकालीन चिन्तन में फैली हुई अनेक भ्रान्तियों का भी निराकरण किया है। जैसे आजकल कतिपय व्यापारियों ने योग-प्रशिक्षणकेन्द्र खोल कर इसे शारीरिक व्यायाम में ही केन्द्रित कर दिया है। अन्य कुछ चिकित्सा प्रेमियों ने इसे शारीरिक और मानसिक रोगों की रामबाण अचूक दवा घोषित किया है। कहीं-कहीं मानसिक तनाव, कुण्ठा, उद्विग्नता, अशान्ति से छुटकारा पाने के लिए यौगिक क्रियाओं का मखौल बनाया जाता है। आसन-प्राणायाम व ध्यानकेन्द्र की स्थापना के द्वारा यही नहीं वरन् पाश्चात्य देशों में प्रचार-प्रसार के बहाने अनेक योगाचार्य, संन्यासी, योगी बन दोनों हाथों से पैसा बटोरने में लगे हुए हैं। महर्षि अरविंद ने अपनी दीर्घकालीन साधना के द्वारा जहाँ योगसाधना रूपी नवनीत को गिरिकन्दरा के एकान्त कानन से बाहर निकाल कर सरल-सुगम और व्यावहारिक बनाया है वहीं 'योग समन्वय' तथा अनेक मार्मिक और गूढ़ रहस्यों को खोजने वाले लेख लिखकर एन. सी. पाल, फरुखर, म्यूलर आदि योगविद्या का 'क' 'ख' न जानने वाले पाश्चात्य विद्वानों का मुंहतोड़ उत्तर दिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् तक पहुँचने और उन्हें उपलब्ध करने के सहस्रों मार्ग हैं और प्रत्येक मार्ग के अपने-अपने अनुभव हैं। उन अनुभवों का अपना-अपना सत्य है। वस्तुतः देखा जाय तो समस्त अनुभव एक ऐसे आधार पर स्थित हैं जो सारतः एक है पर विविध पक्षों की दृष्टि से बहुत जटिल बन गया है। यह है तो सर्वजनीन परन्तु जिसे सब लोग एक ही ढंग से अभिव्यक्त नहीं करते। इसीलिए वाद-विवाद और मार्गों का जंजाल उपस्थित हो जाता है जिससे कोई विशिष्ट उपलब्धि नहीं हो पाती। अपना निजी मार्ग खोजना और उसका पूरी तरह अनुसरण करना आवश्यक है। महर्षि अरविंद इसीलिए प्रचलित योगसाधनाओं का मंथन कर अपना अभिनव मार्ग अन्वेषित करते हैं जिसमें स्थूल सूक्ष्म में और सूक्ष्म अध्यात्म में रूपांरित होते चले जाते हैं। सर्वांगयोग की स्थापना करते हैं।

इस साधना में चैत्य पुरुष (जो मन-प्राण से भिन्न अन्तरात्मा है) को इस रूप में अनुभूत किया जा सकता है कि यह हृदय में विराजित भगवान् का अंश है। भगवान् ही इसे वहाँ अवलम्बन प्रदान करते हैं। यह चैत्यपुरुष साधना का भार अपने ऊपर ले लेता है और सम्पूर्ण सत्ता को सत्य एवं भगवान् की ओर मोड़ देता है। फलतः स्थूल चेतना, मन और प्राण में इसके परिणाम उत्पन्न होने लगते हैं। यही प्रथम रूपान्तरण है। इसके पश्चात् साधक एकमेव आत्मा, ब्रह्म या भगवान् का अनुभव करता है। प्रथमतः शरीर-प्राण-मन के ऊपर उस परम तत्त्व का अनुभव होता है जो ऊर्ध्व, स्वतंत्र एवं निर्लिप्त सत्ता है, सबमें विद्यमान स्थितिशील आत्मा है और साथ ही सक्रिय भागवत पुरुष एवं शक्ति या ईश्वरशक्ति के रूप में गतिशील भी है। जगत् को अपने में समाये हुए है, इसमें व्याप्त है तथा इससे अतिक्रान्त भी है। वही जगत् के समस्त रूपों को प्रकट करता है। वह एक ऐसे परात्पर प्रकाश, ज्ञान, शक्ति, पवित्रता, शान्ति एवं आनन्द के रूप में प्रकाशित होता है जिसका हम सचेतन अनुभव करते हैं। वही हमारी सत्ता के अन्दर अवतरित होता है और स्वयं हमारी साधारण चेतना के स्थान पर उत्तरोत्तर अपनी गतियों को प्रतिष्ठित करता है। यही द्वितीय रूपान्तरण है। इसके पश्चात् ही हमें यह अनुभव हो पाता है कि स्वयं चेतना ऊपर की ओर गति कर रही है और अनेक स्तरों—भौतिक, प्राणिक, मानसिक, अधिमानसिक में से प्रवेश करती हुई विज्ञानमय और आनन्दमय स्तरों की ओर आरोहण कर रही है। अन्य भारतीय मनीषियों की तरह महर्षि अरविंद भी अपनी निरभिमानता प्रकट करते हुए कहते हैं कि यह मेरे द्वारा सर्जित कोई अनूठी या विशिष्ट प्रणाली नहीं है वरन् उपनिषदों में वर्णित सनातन साधनाविधि है। जैसा कि 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में कहा गया है कि पाँच पुरुष हैं—"अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय पुरुष।" उपनिषद् उद्घोष करता है—"साधक को चाहिए कि वह अपनी अन्नमय आत्मा का प्राणमय आत्मा में, प्राणमय का मनोमय में, मनोमय का विज्ञानमय में तथा विज्ञानमय का आनन्दमय आत्मा में प्रत्याहार करे और इस प्रकार पूर्णता उपलब्ध करे।" किन्तु सर्वांगयोग साधना में हमें (साधक को) अन्नमय आत्मा का ही नहीं वरन् उच्चतर आत्मा की शक्ति के नीचे की ओर प्रवाहित होने का भी अनुभव होता है। फलस्वरूप हमारी वर्तमान प्रकृति को अधिकृत एवं परिवर्तित करने एवं इसे अविद्या की प्रकृति से सत्यज्ञान की प्रकृति में और विज्ञानमय प्रकृति को आनन्दमय प्रकृति में परिणत करने के लिए विज्ञानमय आत्मा और प्रकृति का अवतरण सम्भव हो जाता है। यही तीसरा और अन्तिम आध्यात्मिक

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपांतरण है। ये रूपांतरण इसी क्रम में हों यह आवश्यक नहीं है। जन्म-जन्मान्तरों की साधना के फलस्वरूप अनेक साधकों में अन्तरात्मा के सामने आने और साधना का भार लेने से पूर्व ही आध्यात्मिक अवतरण अपूर्व रूप से आरम्भ हो जाता है। परन्तु इससे पहले कि पूर्ण और निर्बाध आध्यात्मिक अवतरण साधित हो सकें आन्तर आत्मिक विकास उपलब्ध करना आवश्यक है और अन्तिम विज्ञानमय रूपांतरण तब तक सम्पन्न नहीं हो सकता जब तक पहले दो पूर्ण और परिपक्व न हो लें।

इन तीनों रूपांतरणों को भलीभाँति घटित करने और समझने के लिए श्री अरविंद के आरोह-अवरोह क्रम के सप्त बिन्दु विकासक्रम को संक्षिप्ततः जान लेना आवश्यक है। 'दिव्य-जीवन' में इस विकास क्रम का सारगर्भित विस्तृत सैद्धान्तिक विवेचन किया गया है जिसे 'योग-समन्वय' में क्रियान्वित करने का सुगम उपक्रम किया गया है। निरंतर ऊपर उठने की चेष्टा (प्रयास) ही साधना कहलाती है। इसीसे साधक क्रमशः सिद्धि प्राप्त कर देह-प्राण-मन भूमियों से ऊपर उठकर विज्ञानमय भूमि में पहुँच जाता है और आनन्द-चैतन्य-सत् का अवतरण झेलने में सक्षम हो जाता है। वस्तुतः श्री अरविंद के विकासक्रम में कोई भी स्तर कोई भी बिन्दु निरर्थक नहीं है। सभी परमेश्वर की लीलाभूमि से सम्बद्ध होने के कारण अपने-अपने दायरे में सार्थक होता है।

मानव परमेश्वर की अद्भुत जटिल रचना है। इसमें शरीर, प्राण एवं मन की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं है वरन् अपने-अपने केन्द्रों से सम्बद्ध एक की अपेक्षा दूसरे का गौण-प्रधान उपयोग होता है। यहाँ शरीर संस्थान का क्षेत्र है शरीर के अधोभाग से लेकर नाभि तक, नाभि से लेकर हृदय तक का क्षेत्र प्राणकेन्द्र एवं हृदय से लेकर मूर्धा तक का क्षेत्र मानस-केन्द्र के अन्तर्गत है। गौण-मुख्य-भाव से देह उसे कहा जाता है जिसमें प्राण और मन की क्रिया सुप्त अर्धसुप्त या गौण होती है और शारीरिक क्रियाएँ मुख्य। प्राण वह केन्द्र है जिसके द्वारा शरीर-संस्थान अधिकृत होता है और मन अर्धस्फुट या अस्फुट होता है। मन वह स्फुट जाग्रत केन्द्र है जिसका अधिकार देह और प्राण दोनों पर होता है। बौद्धसाधना की पदावली में बोलना हो तो शरीर को भोग-आयतन, प्राण को क्रियाशक्ति-आयतन तथा मन को विचार-चिन्तन-आयतन कहा जा सकता है। शरीर-प्राण-मन की क्रमशः तीन वृत्तियाँ—भोगैषणा, कर्मैषणा एवं ज्ञानैषणा प्रस्फुटित होकर मानव में लीला करती रहती हैं। शरीर और प्राण की वृत्तियों के कारण मानव मानव नहीं कहलाता वरन् मनन-चिंतन करने यानी ज्ञानैषणा प्रधान होने के कारण ही यह वनस्पति तथा पशुरूपी प्राणीजगत् से ऊपर स्थित कहलाता है। ज्ञानैषणा के कारण ही यह आत्मचेतन कहलाता है जिसके कारण वह अपने आपको जानने का प्रयास करता है। क्योंकि यह चेतना का विशिष्ट उद्भव न तो पशु में और न ही उद्भिद् में विद्यमान है। इसीलिए क्षेत्रज्ञ होने का दिव्य संदेश दिया गया है। मानव जितने-जितने अंशों में आत्मचेतन या जाग्रत होता जाता है, अपनी साधना में वह उतना ही ऊपर उठता जाता है। आत्मचेतना का अर्थ है अपने में एक अलगाव भाव, विभेदबुद्धि-विवेक शक्ति का विकास करना या ज्ञाता-ज्ञेय में सम्बन्ध स्थापित करना। "मैं जानता हूँ" इसे जानने के प्रयास में अपने आप को जानने की वस्तु से पृथक् करने का प्रयत्न सन्निहित है। इसी कारण वेद-उपनिषद आदि निगम और सभी आगम शास्त्रों के मनीषियों,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी सिद्ध पुरुषों और साधकों ने एक स्वर से यह उद्घोष किया है—'अपने आपको जानो' 'Know Theyself' 'आत्मा वैकं जानथ'।

अब समस्या उठती है कि आत्मा को कहाँ और किस प्रकार उपलब्ध किया जाय ? मैं या 'अहम्' का बोध सर्वसाधारण है। यह सहज-सरल एवं स्वाभाविक बोध है जो सभी भावों, विचारों एवं कार्यों, में अनुस्यूत है क्योंकि आत्मसत्ता की चेतना में ही सभी भाव-ज्ञान-कर्म एकत्व प्रसक्त करते हैं। 'सूत्रे मणिगणा इव'—मणि, मुक्ताओं को सूत में पिरोकर जैसे एक सुन्दर माला गूंथी जाती है उसी प्रकार उक्त सभी आत्मा में ग्रथित रहते हैं। प्रश्न तब उपस्थित होता है कि यह 'मैं' का बोध सदैव हमारी जाग्रत चेतना के धरातल पर अवतरित क्यों नहीं होता। इसका एकमात्र कारण चंचलता—भावचंचलता, विचार (ज्ञान) चंचलता, कर्मचंचलता। भाव, विचार और कर्म के विक्षोभ, आलोडन होने के कारण भाव-विचार-कर्म में रहने वाली स्थिर 'मैं' सत्ता स्पष्टत: अंकित नहीं होती। इन तीनों वृत्तियों के राग में हम इतने मस्त हो जाते हैं कि अपने-आपको खो देते हैं। कभी-कभी विचार बुद्धिकौशल के द्वारा इस 'मैं' को पकड़ने के लिए कटिबद्ध हो जाता है और विश्लेषण प्रक्रिया में इतना उलझ जाता है कि बाल की खाल उधेड़ने लगता है। प्याज के छिलके खोलते-खोलते वह अन्त में प्याज को नहीं पाता। वन में जाकर वह वन को नहीं देखता है केवल पेड़ ही दृष्टिगोचर होते हैं।

अत: सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि हमारे सभी आधारकेन्द्र, अचंचल, स्थिर, शान्त और साम्य अवस्था में निश्चल एवं निस्तब्ध हो जायें। तभी विक्षोभविहीन निर्मल प्रशान्ति अवस्था में 'मैं' की सत्ता आत्मचेतना की पृष्ठभूमि पर स्पष्टत: खिल उठेगी। सम्भवतया इसी कारण राजयोगी महर्षि पंतजलि ने चित्तवृत्तियों के विक्षोभ का शांत करना ही योग माना है, कारण ऐसा करने पर ही साधक दृष्टारूप में अपने निगूढ़ स्वरूप का साक्षात्कार करता है और उसीमें प्रतिष्ठित होता है। योगराज गोरखनाथ ने भी हठयोग की विविध क्रियाओं, आसन और प्राणायामों द्वारा देह और प्राण की चंचलता को सुस्थिर बनाने का प्रयास किया है।

इसी 'मैं' को दार्शनिकों ने जीव, पुरुष या जीवात्मा कहा है। जिस समय जिस प्रकार की वृत्ति जगती है उस समय जीवात्मा भी उसी केन्द्र में आश्रयण लेता है। जैसे जब हममें शारीरिक भोग की प्रेरणा जाग्रत होती है तब अधोभाग के निम्नतम केन्द्र में विचरण करते हैं, नाभि केन्द्र में होते हैं। फिर आवेग, उत्तेजना के कारण जब हम उद्दीप्त हो उठते हैं, विभिन्न क्रियाकलापों में जुट जाते हैं तब जीवात्मा हृत्पिण्ड में ऊपर उठकर आ गया होता है। उसके पश्चात् जब हम सोचते हैं, विचार या चिंतन करते हैं तब विचार-वितर्क-ध्यान-धारणा के केन्द्र मस्तिष्क में उत्थित हो जाते हैं। प्राणीजगत् में वनस्पतियों का मुख्य आधार केन्द्र अधोभाग में, पशुओं का निम्नांग में तथा मनुष्य का मूर्धाभाग यानी मस्तिष्क में है। यद्यपि मानव की वृत्तियाँ तीनों केन्द्रों में चढ़ती उतरती रहती हैं पर उसका स्वाभाविक आवास नाभि या हृत्पिण्ड में नहीं पर उच्चांग मस्तिष्क में है। इसलिए उसमें ऊपर की ओर उठने की स्वाभाविक गति पायी जाती है। किन्तु किसी एक स्तर में स्थिर हो जाने का अर्थ है उससे ऊपर वाले स्तर में पहुँच जाना। निम्नस्तर को अधिगत करने के लिए उच्चस्तर

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में उत्थित होना अपरिहार्य है। इस उत्थान-क्रम में किसी भी स्तर की अवहेलना कर उसे गर्हित या हेय मानकर छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। श्री अरविंद की सर्वांग योगसाधना की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि वह निम्न को रूपांतरित कर उच्चस्तर में प्रतिष्ठित होने का अमर संदेश देती है। देह-प्राण स्तर पर अधिकार करने के लिए दूसरे स्तर—मन-बुद्धि पर प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। इस मन-बुद्धि को अधिकृत करने के लिए मस्तिष्क में प्रतिष्ठित होना होगा। ऐसा अनुभूत करने के लिए सतत साधना करने की आवश्यकता है। स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतम तक जाने का एक सज्ञान प्रयास करना होगा। साधना जैसे-जैसे परिपक्व होती जायेगी वैसे-वैसे हम यह साक्षात अनुभूति करते जायेंगे। आधार के ऊर्ध्वस्तर में अधिष्ठित होना ही अभीष्ट प्रदायक नहीं है वरन् इससे भी ऊपर उठकर आधार के बाहर ब्रह्मरंध्र के ऊपर सहस्रार में तुरीय अवस्था में स्थित हो जाना है। यही परम सिद्धि है। नव-जीवन नव सृष्टि का उन्मेष हमारे अन्दर और बाहर हो रहा है। समस्त ग्रंथियाँ छिन्न-विच्छिन्न हो जाती हैं। यही उपलब्धि षट् चक्र भेदन द्वारा योगसाधना का परम प्राप्तव्य है। इस प्रकार अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोश का भेदन कर जब साधक विज्ञानमय कोश में पहुँचता है तो उसके समस्त द्वन्द्व, संशय, संघर्ष परिसमाप्त हो जाते हैं। इसी अवस्था में विराट आत्मा से एकात्म होकर जीवात्मा का मिलन होता है। यही है जीवनमुक्ति। किन्तु विज्ञानमय कोश का भेदन कर उससे भी ऊपर जाना होगा जो सच्चिदानन्द का क्षेत्र है। विज्ञान का क्षेत्र क्रमशः अधिकाधिक उदार होता हुआ, बृहत् होता हुआ अन्त में असीम अनन्त में जाकर मिल जाता है। इस अनन्त में अनेक का बोध, विशेष का अभिज्ञान विलुप्त हो जाता है। वह अद्वैत, एक एवं अनिर्वचनीय हो जाता है। शरीर विनिमुक्त होकर जीव यह कैवल्य-मुक्ति पा जाता है। यही असीम अनन्त सत्-वित्-आनन्द सृष्टि का, जीव का मूल उद्गम स्रोत है। सबके ऊपर सबके पीछे रहकर यह सबको धारण किये हुए है। यह चरम साम्य, निर्विकार, विशुद्ध अरूप अवस्था है। रूप का जब विकास, सृष्टि का आरंभ ज्योंही होता है त्योंही अनन्त आनन्द-चित्-सत् अवतरित होकर विज्ञानमय क्षेत्र में नीचे आता है। अनन्त-निराकार जब आकार धारण करना चाहता है तब आकार से अन्तरिक्ष, अन्तरिक्ष से मूर्द्धा, मूर्द्धा से हृदय, हृदय से नाभि, नाभि से उपस्थ, इस प्रकार एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र में क्रमशः प्रविष्ट होता है, अवतरित होता है। सत्-चित्-आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और देह का क्रमशः अवतरण होता है।

आरोहण क्रम में दो प्रमुख बाधाएँ आती हैं। प्रथम देह-प्राण-बुद्धि-मन आदि का अतिक्रमण कर जब साधक ऊपरी क्षेत्रों में उत्थान करता है तब वह अगले केन्द्र में उपस्थापित हो जाता है, तब उसे नीचे के अतिक्रमित क्षेत्र छायामात्र माया, कृत्रिम, भ्रमपूर्ण दृष्टिगोचर होने लगते हैं। वह ऊर्ध्व क्षेत्र में ही विचरण करना चाहता है। इसे ही चरम उपलब्धि मानने लगता है। अनन्त का स्वाद सान्त के प्रति विस्वाद उत्पन्न करने लगता है। अवरोहण क्रम की बाधा दूसरी है। इसमें साधक ऊपर उठे बगैर भागवती सत्ता को नीचे उतार लाने में लालायित रहता है। सान्त में रहकर अनन्त को पाना चाहता है। उक्त सभी योग साधनाएँ इसी प्रकार अनन्त को पकड़ने की चेष्टा करती हैं जैसे हठयोग देह और प्राण में, राजयोग मन में, ज्ञानयोग, भक्ति-कर्मयोग ज्ञान, भाव और संकल्प में, तान्त्रिक साधना भोगैषणा में अनन्त को पकड़ना चाहती है। किन्तु यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक आधारकेन्द्र का पूरी तरह रूपांतरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होता। इसके बिना अनन्त की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है—

**'देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।'**

अर्थात् जो लोग ज्ञान-देवता की उपासना करते हैं, वे मेरी ही एक विभूति को प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार हृदय के देवता को, मन के देवता, प्राण-देवता या देह-देवता को परितृप्त करते हैं, वे सब मेरे ही एक ऐश्वर्य के अधिकारी होते हैं; परन्तु मुझको, पूर्ण मुझको वे ही प्राप्त करने के अधिकारी हो सकते हैं जो केवल मुझे ही पाना चाहते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो ऊर्ध्व और अधो क्षेत्र का सत्य अलग-अलग नहीं है। अनन्त आकाश पृथ्वी की ओर से मुँह फेर कर दूर नहीं गया है वरन् पृथ्वी को घेरे हुए पृथ्वी की ओर ही झुका हुआ है। Convex और Concave का ही संयोग है। नतोदर और उन्नतोदर का संयोग है।

महर्षि अरविंद ने अपनी साधना के लिए दो सोपान विधियां आवश्यक बतलाई हैं। प्रथम एकाग्रता तथा द्वितीय वैराग्य। एकाग्रता अभ्यास क्रम ही है जिससे साधक क्रमशः धारणा, ध्यान द्वारा समाधि में लीन हो जाता है। वैराग्य निवृत्ति है, विशुद्धि क्रम। देह-प्राण-बुद्धि-मन के कलमष को धोकर ही या इनको परिशुद्ध कर ही विज्ञानमय क्षेत्र में पहुँचा जा सकता है। यहाँ भी 'अहं' का मोह उसे पददलित करता रहता है, अतः इससे भी पार जाना होगा। एक-एक क्रम ऊपर उठना तथा एक-एक क्रम को परिशुद्ध बनाकर साधक भागवती सत्ता का अनन्य सदस्य बनता है। उसे कुछ भी खोना नहीं पड़ता।

**संदर्भ ग्रन्थ**

(१) योगसमन्वय पूर्वार्द्ध—[अध्याय १, २, भूमिका ४ प्रथम भाग]
[अध्याय १-३,४,५,६-९,१०-१३,द्वितीय भाग]
(२) योगसमन्वय उत्तरार्द्ध—[अध्याय १, ४-५, ६, ७, तृतीय भाग]
[अध्याय १-९, चतुर्थ भाग]
(३) श्री अरविंद के पत्र भाग २ [अध्याय १-२ एवं ३]
(४) योगसूत्र
(५) हठयोगप्रदीपिका
(६) कुलार्णवतंत्र
(७) दिव्यजीवन प्रथम दो भाग

**प्रवाचक**
**दर्शन विभाग,**
**सागर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)**

□□

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org